IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

मानव अधिकारों की अवधारणा

Dr.Dadhich Prerna

आज मानव अधिकारों का मुद्दा वैश्विक सरोकार का विषय है, सार्वभौमिकता की विशेषता जहाँ मानव अधिकारों के महत्व को रेखांकित करती है, वहीं यही विशेषता मानव अधिकारों की अवधारणा को विवादास्पद भी बना देती है, आधुनिक प्रजातान्त्रिक समाजों में व्यक्ति के कतिपय मूलभूत अधिकारों को सर्वमान्य घोषित कर दिया है, परन्तु व्यवहार में इनका अनुपालन किसी समाज विशेष की आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है तथा यह भी सत्य है कि मानव अधिकारों की वर्तमान धारणा पश्चिमी देशों के राजनीतिक व सामाजिक तथा आर्थिक मापदण्डों पर आधारित है। विवाद की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब पश्चिमी मानदण्डों पर आधारित इस अवधारणा पर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा सार्वभौमिक रुप से लागू करने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्वतंत्र राष्ट्रों पर बाध्यकारी सम्प्रभु
शक्ति प्राप्त नहीं है फिर भी मानव अधिकारों के अनुपालन की शर्त पश्चिमी देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का अंग बन गई है। अतः कोई भी राष्ट्र अब मानव अधिकारों के सरोकार से अछूता नहीं है। वैश्वीकरण व उदारीकरण के वर्तमान युग में मानव अधिकारों का मुद्दा भी राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का महत्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है। इस परिप्रेक्ष्य में मानव अधिकारों की अवधारणा का विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है।1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि – वास्तव में मानव अधिकारों की अवधारणा व्यक्ति के प्रजातान्त्रिक अधिकारों की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। अधिकारों व प्रजातन्त्र का वर्तमतान स्वरूप एक लम्बे विकास व दीर्घ मानवीय संघर्ष का परिणाम है। यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकारों की धारणा व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों तथा व्यक्ति व राजनीतिक सत्ता (राज्य) के आपसी सम्बन्धों को परिभाषित करती है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म के आधार पर व्यक्ति–व्यक्ति तथा व्यक्ति–राज्य समब्धों का विश्लेषण किया है। यहां धर्म का अर्थ पूजा–पाठ की किसी विशेष पद्धति से नहीं वरन् कर्त्तव्य व नैतिकता से है। महाभारत मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासक व शासितों को धर्म (कर्त्तव्य) से इस प्रकार बांधने की कोशिश की गई है कि व्यक्ति के अधिकारों की पूर्ति स्वतः हो जाएगी। प्राचीन भारतीय विचारकों ने आज की पश्चिमी विचारधारा की भांति अधिकार की व्याख्या राज्य के विरूद्ध एक दावे के रूप में स्वीकार नहीं की, इसके विपरीत उन्होंने इस धारणा को स्वीकार किया है कि यदि समाज का प्रत्येक अंग अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करता है, तो प्रत्येक के अधिकारों की पूर्ति स्वतः हो जाएगी, क्योंकि अधिकार व कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू है। प्राचीन यूनानी विचारकों ने भी राज्य व व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों का निरूपण अधिकारों के आधार पर नहीं वरन् कर्त्तव्य व नैतिकता के आधार पर किया है। इन विचारकों ने राज्य व समाज में कोई अन्तर नहीं माना है। उनके लिए राज्य एक प्राकृतिक व नैतिक संस्था है तथा स्वयं में उद्देश्य है तथा व्यक्ति साधन मात्र है, चूंकि व्यक्ति राज्य के माध्यम से पूर्णता प्राप्त करता है। अतः

व्यक्ति व राज्य के मध्य विरोधाभास का प्रश्न ही नहीं उठता, दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं, परिणामतः दावों के रूप में राज्य के विरूद्ध व्यक्ति के अधिकारों की न तो गुजांइश है और न ही आवश्यकता है। प्लेटो का आदर्श राज्य न्याय की धारणा पर आधारित है, लेकिन प्लेटो न्याय का व्यापक अर्थ लेता है, न्याय का तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण व स्वभाव के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तथा दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करें। प्लेटों की न्याय की धारणा नागरिकों के कर्त्तव्यों पर बल देती हैं तथा यह व्यक्ति व राज्य (समाज) दोनों के विकास के लिए आवश्यक हैं। अरस्तू ने राज्य को एक प्राकृतिक व नैतिक संस्था लिए बिना अपना नैतिक विकास नहीं कर सकता। अतः राजनीतिक भागीदारी व्यक्ति के नैतिक विकास की पूर्व शर्त है। यह उसका अधिकार नहीं है वरन् उसका दायित्व है कि अपने नैतिक विकास हेतु राज्य की गतिविधियों में भागीदारी सुनिश्चित करें। राज्य साध्य है तथा व्यक्ति साधन है। निष्कर्षतः प्रमुख यूनानी विचारकों ने राज्य व व्यक्ति को एक–दूसरे का पूरक मानते हुए भी व्यक्ति के कर्त्तव्यों पर बल दिया है।2 मध्ययुगीन यूरोप का इतिहास चर्च व सामन्तवादी राज्यों के मध्य प्रभुत्व हेतु संघर्ष का युग है। इस युग में यह मान्यता प्रबल थी कि व्यक्ति अपने धार्मिक जीवन में चर्च के अधीन है तथा राजनीतिक जीवन में राज्य के अधीन है। सेण्ट आगस्टाइन जैसे चिन्तकों ने राज्य के ऊपर चर्च की प्रभुता का समर्थन भी किया है। पोप गेलासियस ने दोनों की व्यक्ति के धार्मिक व राजनीतिक जीवन में अलग–अलग सत्ता स्वीकार की है। इसे दो तलवारों का सिद्धान्त भी कहा जाता है। चर्च व राज्य के मध्य प्रभुता के संघर्ष में व्यक्ति के अधिकारों का कोई महत्व नहीं था, व्यक्ति राज्य अथवा चर्च दोनों में से किसी के विरूद्ध अपने अधिकारों का दावा नहीं कर सकता था। प्रत्येक प्रकार के अधिकारों विशेषकर मानव अधिकारों की आधारशिला इस धारणा पर आधारित है कि मानव गरिमा युक्त तथा विवेकशील प्राणी है तथा समाज की राज्य सहित सभी संस्थाओं का मूल उद्देश्य व्यक्ति का हित अथवा मानव कल्याण है। वस्तुतः दावों के रूप में अधिकारों की धारणा की दार्शनिक आधारशिला सर्वप्रथम पुनर्जागरण की क्रान्ति द्वारा रखी गई थी। 15वीं शताब्दी में यूरोप ने पुनर्जागरण के इस विचार को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया कि व्यक्ति एक गरिमायुक्त व विवेकशील प्राणी है तथा राज्य एक मानव निर्मित संस्था है। पुनर्जागरण ने जहां एक ओर व्यक्ति के ऊपर सामन्तवादी व चर्च के नियन्त्रण व शोषण का अन्त किया, वहीं मानव केन्द्रित राजनीतिक व्यवस्थाओं के विकसित होने का मार्ग प्रशस्त किया। वास्तव में प्रजातन्त्र का दार्शनिक आधार पुनर्जागरण में ही निहित है।3

आधुनिक युग के आरम्भ में ही यूरोप के राजनीतिक विचारकों ने एक तरफ जहां दैवीय राज्य की धारणा को नकार दिया, वहीं दूसरी ओर मानवनिर्मित तथा जनसहमति पर आधारित प्रजातान्त्रित राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं ने भी इसी दिशा में अपना योगदान दिया। यद्यपि 1215 के मैग्नाकार्टा (महान अधिकार–पत्र) द्वारा जनता ने राजा से यह अधिकार प्राप्त कर लिया था कि राजा द्वारा नए कर लगाने से पूर्व समाज के विभिन्न वर्गों से सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध तथा जनप्रतिनिधियों के द्वारा किया गया। इस क्रान्ति ने इंग्लैण्ड में जनता के अधिकारों पर आधारित प्रजातान्त्रिक शासन के विकास का रास्ता सुदृढ़ किया। समझौतावादी राजनीतिक विचारकों हॉब्स, लॉक व रूसों ने राज्य को व्यक्तियों के आपसी समझौते का परिणाम बताया तथा व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान की, प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो व्यक्ति को राज्य के पूर्व (प्राकृतिक अवस्था) में जन्म से प्राप्त है, प्राकृतिक अधिकारों की धारणा व्यक्ति के समस्त अधिकारों की धारणा व्यक्ति के समस्त अधिकारों सहित मानव

अधिकारों का मूल स्त्रोत है। ब्रिटिश विचारक जॉन लॉक ने इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति की उपलब्धियों का समर्थन किया तथा उदारवादी विचारधारा पर आधारित सीमित प्रजातान्त्रिक शासन का सूत्रपात किया। लॉक का सबसे महत्वपूर्ण विचार प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के तीन अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में रखा, जो व्यक्ति को राज्य की उत्पति से पूर्व जन्म से ही प्राप्त है। बल्कि राज्य का निर्माण इन प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा हेतु ही किया जाता है। यदि राजनीतिक समाज इन अधिकारों की रक्षा करने में असफल होता है

या वह स्वयं इन अधिकारों का उल्लंघन करता, है तो व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे क्रान्ति द्वारा सरकार को बदल दें, प्राकृतिक अधिकारों की उक्त धारणा ने समस्त आधुनिक जनक्रान्तियों तथा मानव अधिकारों की वर्तमान अवधारणा को प्रेरित किया है।

अधिकारों की धारणा को दृढ़ता प्रदान करने तथा व्यक्तियों के कतिपय अधिकारों को जन्मजात अधिकारों के रूप में सर्वमान्य बनाने में अमरीका व फ्रांस की क्रान्तियों का महत्वपूर्ण योगदान है। अमरीकी क्रान्ति 1776 की घोषणा में कहा गया, ''हम इस सत्य को स्वयंसिद्ध मानते हैं कि मनुष्यों को समान बनाया गया है।'' अर्थात् समानता का अधिकार एक स्वयंसिद्ध अधिकार है इसी प्रकार फ्रांसीसी क्रान्ति, 1989 ने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के तीन नारों का उद्घोष किया, जो वर्तमान मानवीय अधिकारों के आधार बन गए है। फ्रांसीसी क्रान्ति के उपरान्त जारी अधिकारों के घोषणा–पत्र में कहा गया कि ''व्यक्ति अपने अधिकारों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र व समान पैदा हुए हैं'', अर्थात् स्वतन्त्रता व समानता के अधिकारों को व्यक्ति के जन्मजात अधिकार माना गया। अधिकारों की इस उदीयमान धारणा ने उदारवादी प्रजातन्त्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, लेकिन उदारवादी अधिकारों की उक्त धारणा केवल राजनीतिक व नागरिक अधिकारों तक सीमित थी। उसमें सामाजिक व आर्थिक अधिकारों को महत्व नहीं दिया गया था।4 सामाजिक व आर्थिक अधिकारों के विकास की दृष्टि से मार्क्सवादी व समाजवादी विचारकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। कार्ल मार्क्स ने उदारवादी पूंजीवाद में निहित शोषण का खुलासा किया तथा सामाजिक व आर्थिक समानता से राहित उदारवादी प्रजातन्त्र को एक धोखा बताया। उदारवादी प्रजातन्त्र को मार्क्सवादी आलोचनाओं से बचाने के लिए 20वीं शताब्दी में उदारवादी विचारधारा में प्रजातान्त्रिक समाजवाद तथा कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के माध्यम से सामाजिक व आर्थिक अधिकारों का समावेश किया गया। 1917 की रूस की साम्यवादी क्रान्ति तथा 1949 की चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने सामाजिक व आर्थिक अधिकारों के महत्व को विश्वयुद्ध के पूर्व ही व्यक्ति के नागरिक, सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों को आधुनिक शासन व्यवस्थाओं का अंग मान लिया गया था। **मानव अधिकार क्यों ?** अब यह प्रश्न विचारणीय है कि जब 20वीं शताब्दी के आरम्भ में व्यशक्ति के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक अधिकारों को मान्यता प्राप्त हो गई थी, तो संयुक्त राष्ट्र संघ को मानव अधिकारों की अलग घोषणा क्यों करनी पड़ी ? वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध ने ही यह सिद्ध कर दिया था कि राष्ट्रीय घटनाओं के अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से राष्ट्रीय परिदृश्य अप्रभावित नहीं रह सकता। प्रथम युद्ध के पश्चात् व उसके परिणामस्वरूप जर्मनी, इटली तथा जापान में प्रतिक्रिया स्वरूप निरंकुश, तानाशाही तथा प्रजातन्त्र विरोधी राजनीतिक प्रवृत्तियों को बल मिला। जिसके परिणामस्वरूप विश्व को दूसरे विश्वयुद्ध का सामना करना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों का विश्लेषण कर विद्वानों ने इसके तमाम कारणों पर प्रकाश डाला। यह माना गया कि इस युद्ध का एक प्रमुख कारण जापान, जर्मनी तथा इटली जैसे देशों में प्रजातन्त्र व

नागरिक अधिकारों का अभाव है। जिससे शासकों ने निरंकुश नीतियों को अपनाया तथा विश्व को युद्ध की विभीषिका में झोंक दिया। यहाँ तक कि युद्ध के समय ही 1941 में अमरीका के राष्ट्रपति ने चार स्वतन्त्रताओं–अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, उपासना की स्वतन्त्रता, भय से स्वतन्त्रता तथा अभाव से स्वतन्त्रता को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की आवश्यक शर्त बताया। यद्यपि विभिन्न नागरिक अधिकारों की व्यवस्था राष्ट्रीय स्तर पर राज्यों के संविधान व कानूनों में की जाती है तथा देश की न्यायपालिका द्वारा उन्हें संरक्षण प्रदान किया जाता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिकारों की कोई धारणा प्रचलित नहीं थी, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के लिए आवश्यक थी। मानव अधिकारों की व्यवस्था इसी अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए की गई। अतः अन्य अधिकारों के विपरीत मानव अधिकारों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके संरक्षण तथा लागू करने का दायित्व सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का है। यदि विश्व के किसी भाग में मानव अधिकारों का उल्लंघन इस प्रकृति का है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो गया है, तो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से वहाँ सैनिक हस्तक्षेप भी कर सकता है।5 **मानव अधिकार क्या है ?** मानव अधिकार विश्वकोष के अनुसार, मानव अधिकार वे अधिकार है जो सभी व्यक्तियों व उनके समूहों को मानव होने के परिणामस्वरूप प्राप्त हैं, अर्थात् मानव अधिकार जीवन की वे परिस्थितियां है, जो मानव प्राणी के रूप में सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव जैसे जाति, धर्म, जन्मस्थान, लिंग आदि के प्राप्त है। मानव अधिकारों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी सार्वभौमिकता है अर्थात् ये अधिकार बिना किसी भेदभाव के सभी मानव प्राणियों को उपलब्ध होने चाहिए। दूसरी विशेषता यह है कि ये अधिकार व्यक्ति के रूप में विकास हेतु आवश्यक परिस्थितियां है। अर्थात् इनके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व व

क्षमताओं का विकास नहीं हो सकता। तीसरी विशेषता यह है कि ये अधिकार स्वयंसिद्ध सत्य हैं तथा व्यक्ति को जन्म से प्राप्त है। अतः चूंकि मानव अधिकारों को राजनीतिक व्यवस्था द्वारा प्रदान नहीं किया गया। इसलिए राज्य द्वारा इन्हें छीना नहीं जा सकता है। इस विशेषता को मानव अधिकारों की अदेयता भी कहते है। मानव अधिकारों की चौथी विभिन्न प्रकार के मानव अधिकारों को अविभाज्य तथा अन्तः–सम्बन्धित (Indivisible and Interrelated) माना गया है। अर्थात् मानव अधिकारों की श्रेणी में जो विभिन्न प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक अधिकार हैं, वे आपस में एक–दूसरे के पूरक हैं तथा उन्हें लागू करने में पारस्परिक भेदभाव या विभाजन नहीं किया जा सकता।6 **मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय संहिता** जैसा कि ऊपर बताया गया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त व्यक्ति के अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सरोकार बन गए तथा उनका नए सिरे से संहिताकरण ;ब्वकपपिबंजपवदद्ध कर मानव अधिकारों की संज्ञा दी गई। सर्वप्रथम संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने मौलिक मानव अधिकारों तथा व्यक्ति की गरिमा में आस्था व्यक्त की। तत्पश्चात् संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 10 दिसम्बर, 1948 को मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को स्वीकार किया। इसीलिए प्रत्येक वर्ष 10 दिसम्बर को मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस घोषणा में सभी व्यक्तियों के कतिपय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक अधिकारों को सम्मिलित किया गया। सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद एक में कहा गया, ''सभी व्यक्ति सम्मान व अधिकारों की दृष्टि में समान पैदा हुए हैं, सभी व्यक्ति विवेक व चेतना से युक्त है।'' इसी घोषणा के अनुच्छेद दो में विश्वास व्यक्त किया गया कि,

''सभी व्यक्ति इस घोषणा में उल्लिखित सभी स्वतन्त्रताओं को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के प्राप्त करने के अधिकार है।'' इसके उपरान्त संयुक्त राष्ट्र महासभा ने मानव अधिकारों के सम्बन्ध में दो बाध्यकारी अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को स्वीकार किया है। प्रथम 1966 में पारित नागरिक व राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय संधि तथा द्वितीय आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, इन दोनों सन्धियों को अधिकांश राष्ट्रों ने मान्यता प्रदान कर दी है, ये दोनों सन्धियां इस मान्यता के परिणामस्वरूप 1976 से प्रभावी हो गई हैं। इन दो सन्धियों सहित मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा, 1948 को मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय संहिता के रूप में जाना जाता है। इस संहिता के अनुसार पांच प्रकार के मानव अध्किार है। प्रथम, नागरिक अधिकार, जिसमें समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता तथा जीवन का अधिकार दास प्रथा की समाप्ति, न्यायपूर्ण कानूनी प्रक्रिया का अधिकार शामिल है। दूसरे, राजनीतिक अधिकार, जिनमें राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार, राजनीतिक पद पाने का अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, शरण पाने का अधिकार आदि सम्मिलित है। तीसरे, आर्थिक अधिकार, जिनमें सम्पति का अधिकार, विपरीत परिस्थितियों में सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार, जीविका निर्वाह हेतु पर्याप्त साधन पाने का अधिकार आदि शामिल है। चौथे, सामाजिक अधिकार, जिनमें विवाह करने व परिवार स्थापित करने का अधिकार, परिवार के संरक्षण का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि सम्मिलित है। पांचवे, सांस्कृतिक जीवन में भागीदारी का अधिकार, सांस्कृतिक कृतियों के संरक्षण का अधिकार आदि सम्मिलित हैं।7 संयुक्त राष्ट्र महासभा ने समय–समय पर विशिष्ट वर्गों के हितों की रक्षा हेतु अन्य विशिष्ट मानवाधिकारों को भी मान्यता प्रदान की है तथा मानवाधिकारों का विस्तार किया है। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति के विरूद्ध 1969 में महासभा ने सभी प्रकार के जातीय भेदभाव को समाप्त करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय ;प्दजमतदंजपवदंस ब्वदअमदजपवदद्ध को स्वीकृ1ति प्रदान की थी, इसी प्रकार महासभा ने 1979 में महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभाव समाप्त करने का अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय स्वीकार किया। बच्चों के मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु वर्ष 1989 में महासभा ने एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय स्वीकार किया है, अतः वर्तमान में मानवाधिकारों के दायरे में केवल सामान्य मानवाधिकार ही सम्मिलित नहीं है। वरन् विशिष्ट वर्गों के अधिकारों को भी मान्यता प्रदान कर दी गई है। **मानवाधिकारों के सिद्धान्त** मानवाधिकारों के अस्तित्व को उचित ठहराने हेतु समय–समय पर विभिन्न सिद्धान्तों का सहारा लिया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रचलित सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है। प्राचीन स्ट्रोइक विचारकों ने यह प्रतिपादन किया था कि मानव

व्यवहार का मूल्यांकन प्राकृतिक नियमों ;सूं वि छंजनतमद्ध के आधार पर किया जाना चाहिए। इसके बाद रोमन विचारकों ने जसजेष्टियम ;श्रनेरमेजपनउ वत सूं वि छंजपवदेद्ध का विस्तार दिया जिसके अनुसार राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर व्यक्तियों के कुछ सार्वजनिक अधिकार हैं। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का व्यापक विश्लेषण व समर्थन समझौतावादी विचारकों हॉब्स, लॉक व रूसों द्वारा किया गया था। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों को जन्म से प्राकृतिक अवस्था में (राज्य निर्माण से पूर्व की अवस्था) कतिपय अधिकार प्राप्त हैं, जिन्हें प्राकृतिक अधिकार कहा जाता है। चूंकि ये अधिकार व्यक्ति को जन्म से प्राप्त है तथा राज्य द्वारा नहीं प्रदान किये गए है। अतः राज्य द्वारा इन्हें वापस अथवा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, मानव अधिकारों को स्वयंसिद्ध सत्य मानना तथा उनकी अदेयता व सार्वभौमिकता इसी सिद्धान्त से प्रेरित है।

मानव अधिकारों का दूसरा सिद्धान्त पारस्परिकता का नैतिक नियम ;म्जीपबे वत्मबपचतवबपजलद्ध है। इस नियम के अनुसार, हमें दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करना चाहिए जैसाकि हम दूसरों से अपने पति व्यवहार चाहते हैं, इस नियम का यह सुनिश्चित करता है कि हमारे अधिकारों का संरक्षण स्वतः सुनिश्चित होगा। यह नियम मूल रूप से विश्व के प्रमुख धर्मों में पाया जाता है। विश्व धर्मों की संसद ने अपने 1993 में जारी वैश्विक नैतिकता के नियमों में इसे स्थान प्रदान किया है।

मानवाधिकारों के विषय में तीसरा सिद्धान्त जॉन फिनिस

;श्रवीद थ्पददपेद्ध द्वारा प्रतिपादित साधन सिद्धान्त ;प्देजतनउमदजंस जीमवतलद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मानव अधिकार वह परिस्थितियों का साधन है। जिसके बिना व्यक्ति का मानव के रूप में विकास सम्भव नहीं है। इसीलिए ये अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिए। मानव अधिकारों की व्याख्या करने वाला चौथा सिद्धान्त हित सिद्धान्त ;प्दजमतमेज जीमवतलद्ध है। जिसके अनुसार व्यक्ति दूसरों के अधिकारों का सम्मान इसलिए करते है कि इससे उनके अधिकार सुरक्षित होते है। यह अधिकारों का संरक्षण उनके हित में है। भारतीय विद्वान् नीरज नाथवानी ने हित सिद्धान्त की व्याख्या राज्य के संदर्भ में की है। उनके अनुसार व्यक्त्यिों के अधिकारों की रक्षा व पालन स्वयं राज्य के हित में है। इनके अधिकारों के संरक्षण व समुचित व्यवस्था द्वारा ही राज्य अपने को हिंसात्मक विरोधों व आन्दोलनों से बचा सकता है। मानव अधिकारों के औचित्य के सम्बन्ध में पांचवां दृष्टिकोण मानवीय सुरक्षा दृष्टिकोण ;भ्नउंद ैमबनतपजल ।चचतवंबीद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अधिकार मानव सुरक्षा की पूर्ण शर्त है यह दृष्टिकोण राज्य केन्द्रित सुरक्षा के स्थान पर व्यक्ति के केन्द्रित सुरक्षा की धारणा का समर्थक है। आज के पारस्परिक निर्भरता वाले युग में मानव केन्द्रित सुरक्षा का दृष्टिकोण व्यक्ति व समाज दोनों की सुरक्षा हेतु आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था वैश्विक स्तर पर मानव सुरक्षा हेतु आवश्यकता है। **मानव अधिकारों की समीक्षा**

यद्यपि मानव अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की मान्यता प्राप्त हो चुकी है तथा मानव अधिकार राष्ट्रों की प्रगति का मापदण्ड भी बन चुके है। यथापि कतिपय आलोचक विभिन्न आधारों पर मानव अधिकारों की आलोचना भी करते है। मानव अधिकारों की आलोचना की दो धाराएं है, प्रथम श्रेणी में वे आलोचक आते हैं जो मानव अधिकारों को राज्य व समाज के विरूद्ध दावों के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करते, इस श्रेणी में सर्वप्रथम विभिन्न रूढ़िवादी आलोचक जैसे एडमण्ड बर्क, डेविड ह्यूम तथा मैकिन्टायर आदि है। जिनके अनुसार ऐसे कोई प्राकृतिक अधिकार मान्य नहीं है। जिन्हें समाज व संस्कृति की मान्यता नहीं है तथा जो समाज व संस्कृति द्वारा विकसित नहीं किए गए। इसी आधार पर एडमण्ड बर्क ने फ्रांसीसी क्रान्ति के समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व के अधिकारों को मान्यता प्रदान नहीं की थी, क्योंकि इन अधिकारों का विकास फ्रांसीसी समाज में स्वाभावित ढ़ंग से नहीं हुआ था। यदि हम मानव अधिकारों को समाज तथा संस्कृति से विकसित मान लेते हैं, तो मानव अधिकारों की कोई सार्वभौमिक धारणा नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक देश की संस्कृति की समाज में पर्याप्त विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। इसी आधार पर 1990 में सिंगापुर के पूर्व प्रधानमंत्री ली कुआन यी तथा मलेशिया के नेता महथिर मोहम्मद ने तर्क दिया था कि एशिया में समाजिक मूल्य पश्चिमी देशों से इस अर्थ में भिन्न है कि यहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता के स्थान पर सामाजिक स्थायित्व व सम्पन्नता को अधिक महत्व दिया गया है तथा मानव अधिकारों की वर्तमान धारणा एशियाई देशों पर बाहर से थोपी हुई प्रतीत होती है। मानव अधिकारों की एक अन्य आलोचना कानूनी

दार्शनिकों जैसे बेन्थम आदि ने की है। उनके अनुसार राज्य के विरुद्ध व उसकी मान्यता के बिना कोई प्राकृतिक अथवा मानव अधिकार नहीं हो सकते, उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों को

छवदै.मदेम न्चवद ैजपसजे कहकर उनकी निन्दा की है।

ऐतिहासिकतावादी विचारक जैसे सर हेनरी मेन तथा सैविग्नी ने माना है कि वही अधिकार मान्य हैं, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से किसी समाज में विकास हुआ है, अधिकार बाहर से थोपे नहीं जा सकतें, 20वीं शताब्दी के तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने मानव अधिकारों को केवल नैतिक घोषणाएँ माना है, जो मान्य नहीं है। क्योंकि अनुभव के आधार पर उनका सत्यापन नहीं किया जा सकता है। यद्यपि कार्ल मार्क्स के विचारों से मनुष्य के आर्थिक व सामाजिक अधिकारो ंको प्रेरणा मिली है। परन्तु उसने स्वयं व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा को महत्व न देकर आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों को अपने विचारों में अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। मानव अधिकारों की दूसरी श्रेणी में वे आलोचक आते हैं, जिसके अन्तर्गत आलोचकों ने मानव अधिकारों की अविभाज्यता व सार्वभौमिकता की विशेषताओं को स्वीकार नहीं किया है, ओलिविया बाल तथा पॉल ग्रीडी ;व्सपअपं ठंसस ंदक च्नस ळतमंकलद्ध जैसे आलोचकों ने मानव अधिकारों की अविभाज्यता को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार राजनीतिक व नागरिक अधिकार अन्य अधिकारों जैसे सामाजिक व आर्थिक अधिकारों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि सामाजिक व आर्थिक अधिकार, अनिश्चित प्रकृति के हैं, इनको लागू करने हेतु धन की आवश्यकता होती है तथा इनकी प्रकृति सकारात्मक है, जबकि ये विशेषताएं नागरिक व राजनीतिक अधिकारों में नहीं पाई जाती है, फिलिप एल्स्टन ने भी माना है कि सभी अधिकार एक जैसे नहीं हैं, उन्हें लागू करने में आपसी प्रमुखता ;च्तपवतपजलद्ध प्रदान किया जाना आवश्यक है। इसी प्रकार

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद ;ब्नसजनतंस त्मसंजपअपेउद्ध व विशिष्टता के अधिकार पर आलोचक मानव अधिकारों की सार्वभौमिकता को स्वीकार नहीं करते है।8 उक्त आलोचनाओं का व्यावहारिक पहलू है कि तीसरी दुनिया के अधिकांश देश मानव अधिकारों को यूरोप की इसाई परम्परा से प्रेरित मानते हैं तथा अपनी विशिष्ट सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार पर उनका थोपा जाना स्वीकार नहीं करते हैं, जबकि अधिकांश यूरोपीय देश मानव अधिकारों के अनुपालन में अपने को अग्रणी मानते हुए अन्य देशों से उन्हें इसी रुप में लागू किया जाना आवश्यक समझते हैं, यह विवाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कई बार उभर कर आ चुका है। संक्षेप में मानव अधिकारों की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा सामान्य रूप से अनुमन्य होते हुए भी अनुपालन के स्तर पर जटिल व विवादास्पद हैं।

पाद टिप्पणी :–

1.. प्रतियोगिता दर्पण, जनवरी मासिक पत्रिका, 2012, पृ.सं. 1079

2. प्रतियोगिता दर्पण, जनवरी मासिक पत्रिका, 2012, पृ.सं. 1081

3 प्रतियोगिता दर्पण, जनवरी मासिक पत्रिका, 2012, पृ.सं. 1092

4- सिन्हा, सच्चिदानन्द : इतवारी पत्रिका, 19 मई, 1985, पृ.सं. 8–9

5- राजस्थान पत्रिका, 4 दिसम्बर 2011, पृष्ठ 6

6- डॉ. पुरुषोत्तम नागर, ''आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पेज 419

7 इण्डिया टूडे, 3 जून 2009, पृष्ठ 12

8. आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, डॉ. ए. अवस्थी, डॉ. आर.के. अवस्थी, रिसर्च पब्लिकेशन्स, त्रिपोलिया, जयपुर पेज 297